

# स्वातंत्र्योत्तर कहानी आंदोलन और जनवादी कहानी

डॉ. अशोक कुमार सिंह

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

कहानी मौत के विरुद्ध जिन्दगी की जिद की कहानी होती है। कहानी के साथ समाज के सम्बद्ध होने; यानी अपने से हटकर दूसरे की सत्ता स्वीकार करने की नियति कहानी के साथ जन्म से ही जुड़ी हुई है।<sup>2</sup> कहने की जरूरत नहीं कि कहानी लोकप्रिय साहित्य है। साहित्यिक माध्यम के रूप में यह प्रकृति से ही जनतांत्रिक है।<sup>3</sup>

मैं कहानी को आदिविधा मानता हूँ। वह गद्य में लिखी गयी हो या पद्य में या इससे भी पहले संकेतों में। पद्य या गीतों के माध्यम से स्वयं उनका रस ग्रहण करते हुए भी, इस सबके पीछे “नेपथ्य” में चलनेवाली कहानी ही प्रमुख रही है। लेखक के अभाव में पद्य की याद रख लेना सरल है इसलिए हर साहित्य के प्रारंभ में पद्यात्मक कहानियाँ हैं या उनके भावपूर्ण स्थलों पर गीत रचनाएँ हैं।<sup>4</sup>

“आदमी सदा से अपने अनुभव दूसरे के साथ बांटता रहा है। इसीलिए आधुनिक नाटककार ब्रेख्त कहता है कि - मनुष्य-समाज की इकाई एक व्यक्ति नहीं, दो व्यक्ति मिलकर बनाते हैं। आपस में भाषा चाहे संकेतों, मुद्राओं और अर्थहीन ध्वनियों की रही हो या लिखी छपी साफ सुथरी पुस्तकों की, वह एक को दूसरे तक पहुंचाने का वाहन, साधन और माध्यम ही है।... मनुष्य सामाजिक प्राणी है। यह बात सबसे पहले भाषा के अस्तित्व से ही प्रमाणित होती है। भाषा उसकी संपूर्ण अन्तर-बाह्य आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति है। यदि वह अपनी आवश्यकताओं में स्वयं ही संतुष्ट रह लेता तो शायद भाषा का जन्म ही न होता। वह स्वयं खाता ही नहीं, दूसरे से कहता भी है कि “मैं खाऊंगा” या “तू भी खा”। यह “कहना” अपने को दूसरे तक पहुंचाना है। उसे उसके “होने” की स्वीकृति देना है या उससे अपने की जोड़ना है। भूख-प्यास, भय-आशंका, आशा-कल्पना, प्यार-वैमनस्य, स्मृति-स्वप्न, श्रम-विश्वास ....जीवन और सुरक्षा की भावना दोनों के बीच समान और सामान्य हैं। इसलिए दोनों अभिव्यक्ति के द्वारा उन्हें स्वीकृति-अस्वीकृति देते हैं। शिकार लाने या हथियार और घर बनाने से भी पहले उनकी आवश्यकता पर सहमत-असहमत होते हैं। आवश्यकता-पूर्ति की सफलता-असफलता उन्हें अनुभवी बनाती है और अपने अनुभवों के आदान-प्रदान से सब के सब समझदार और ज्ञानी बनते हैं। अपने आप और धरती की सीमाओं को लांघने के साथ-साथ आदमी समय की सीमाओं को भी लांघता चाहता है – वह वर्तमान को लांघकर कभी स्मृति को सहारे अतीत में जाता है और कभी कल्पना और अनुमान के सहारे भविष्य में। कभी वह अपने साथ हुई सिंह की मुठभेड़

का “अनुभव” दूसरे को देकर उसे सावधान करता है तो कभी पहाड़ों के पार, आसमान के ऊपर, चांद-तारों की दुनिया के “अनुमान” देकर उसकी कल्पना शक्ति को जागरित। कभी जन्म के उत्स को समझना चाहता है तो कभी मृत्यु के रहस्य को भेदना। और अनजाने ही छोटी-छोटी कहानियां बनती रहती है। लेकिन इन कहानियों का विषय वह अपने-आपको नहीं बनाता जितना अपने आसपास के परिवेश को छोटे-छोटे अनुभव, छोट-छोटे अभियान, घटनाएं-दुर्घटनाएं, छोटी-छोटी यादें और सुख की घड़ियां। जीवन के मूलभूत संघर्षों से घिरा, हर क्षण विरोधी परिस्थितियों में डूबा। आज यहां, कल वहां की घटनात्मक गति में अपने सीमित बोध से जितना जान लेता है; वही उसका ज्ञान है। जितना नहीं जान पाता उस सबको देवी-देवता, भूत-प्रेत, मानकर अपने से ऊंचा प्रतिष्ठित करता जाता है। नदी, पहाड़, पेड़, सूर्य-चन्द्र, वर्षा, सागर, जीवन-मृत्यु जो भी उसके शरीर और समझ की शक्ति से परे है-देवता है और ये देवता या आधि-दैविक शक्तियां उसकी अपनी जिंदगी में घुले-मिले हैं। क्योंकि हर क्षण उनके साथ और सामना होता है। कभी कोई साहसी इन देवताओं की शक्ति को ललकार देता है। हार जाता है तो देवता की प्रतिष्ठा और भी बढ़ जाती है। जीत जाता है तो हीरो बन जाता है। उसकी हार और जीत रोज एक “कहानी” को जन्म देती है... मूल में वस्तुतः ये प्रारंभिक कहानियां – शेष सृष्टि के साथ अपने संबंध-निर्णय की कहानियां हैं... यायावरी जीवन की स्मृतियां हैं...

दूसरा बड़ा मोड़ आपस के संबंध निर्धारित करने की कहानियों से आता है और वे छल-कपट, प्यार-बलिदान, विजय-पराजय की कहानियां बनने लगती हैं। अब मनुष्य का जीवन स्थिर हो गया है। घर-खेत बन गये हैं और एक प्रकार की सामाजिकता खोज निकालने का प्रयत्न है। शेर-चीतों, आंधी-पानी का डर जरूर है; लेकिन उतना नहीं जितना अपने पड़ोसी का है। प्रकृति के साथ एक समझौते जैसी स्थिति आ गयी है। इसलिए पहले जो शेर-चीते, नदी-पहाड़, देवी-देवता बनकर केवल बाधाएं देने या पुजने आते थे। वे अब मिलों की तरह आते हैं। मनुष्य की बोली बोलते हैं। चेतावनी, नीति और उपदेश देते हैं। वे या तो स्वयं मित्त-शत्रु हैं या इसके प्रतीक। पंचतंत्र, हितोपदेश, जातक या ईसप की कहानियों के नायक चाहे शृगाल-कुत्ते हों या शेर-हाथी – वे सब मनुष्यों की कहानियां हैं। मनुष्यों के लिए लिखी गई हैं। ये सब मित्त-शत्रु या शुभ-अशुभ प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि हैं। प्रतीक हैं। “कूट-बुद्धि” नाम का शृगाल, शृगाल नहीं एक वृत्ति है और ये सब के सब किसी न किसी प्रवृत्ति को उद्घाटित करते हैं। यों भी इनमें प्राकृतिक-अप्राकृतिक सभी का प्रवेश है। इन कहानियों को शैली से प्रकट होता है कि जीवन में अब उतनी आपाधापी नहीं है यों हलचल तो है ही। ये छोटी-छोटी कहानियां एक दूसरे से जुड़ी भी हैं और स्वतंत्र भी। अर्थात् ये टुकड़ों में प्रचलित बहुत दिनों से रही होंगी और इन्हें बाद में सूत्रबद्ध कर लिया होगा या एक के बाद दूसरे दिन उसी क्रम में कहा जाता रहा होगा। एक दृष्टांत से दूसरा दृष्टांत निकलता रहता होगा। पंचतंत्र और ईसप के अलावा रूस के लोस्कोव की चील-कौवों, सांप-कछुओं पर लिखी दृष्टांत कथाएं भी सुंदर और कलापूर्ण हैं। आत्मरक्षा इनके मूल में है और धूर्तता, धोखे, छल-कपट, लोभ से बचना उद्देश्य। तत्त्वतः ये मनुष्य के अधिक बुद्धिमान बनने या अनुभवी हो जाने की कहानियां हैं और इनका प्रमुख स्वर व्यावहारिक ज्ञान तथा हमेशा चौकन्ने बने रहने का है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो पहले प्रकार की कहानियों का मूल भय था। तो दूसरों पर अविश्वास और संशय अर्थात् प्रतिरक्षा इन कहानियों की प्रेरणा है।

अवश्य ही जातक कथाओं की सम्पूर्ण परिकल्पना इस थीम का अतिक्रमण करती हैं और व्यावहारिक अनुभवों को बोधत्व के साथ जोड़ देती हैं-दार्शनिक परिभाषा में वे बोध के विभिन्न स्तर हो जाते हैं। निश्चय ही ये कहानियां पहले की दृष्टांत कहानियों से अधिक विकसित हैं और प्रारंभ, विकास और निष्कर्ष में हमें आधुनिकतम कहानियों की याद दिलाती हैं।... यों भी “फेबुल” (पशु-पक्षियों की कहानियाँ) और “फैन्टेसी” (आधि दैविक तत्वों से भरी राक्षस-परियों इत्यादि की) कहानियों के प्रतीकार्थ कैसे “पैरेबुल” (दृष्टांत कथाओं) में बदलते गये-इस प्रक्रिया का अध्ययन कहानी-पाठक के लिए महत्वपूर्ण है।

रामायण-महाभारत या पुराणों की कहानियां उन्नत समाज की कहानियां हैं। राज्यों के संघर्ष. जय-विजय की कहानियां हैं। सही-गलत के निर्णय और निष्कर्ष की कहानियां हैं। दूसरे शब्दों में मर्यादाओं के बनने-टूटने की। मर्यादाओं के साथ धर्म जुड़ा है इसलिए इनका आग्रह धर्म की प्रतिष्ठा है। जो धर्म की मर्यादा का पालन नहीं करता। वह पतित म्लेच्छ और राक्षस है। युद्ध और संघर्ष इनके विकास तत्व हैं और राज्य-विस्तार या विश्व-विजय की भावना इनकी मूल प्रेरणा। ग्रीक कथाओं से लेकर इस्लाम के “दास्तान अमीर हमजा” तक इन कहानियों का सिलसिला है। सुन्दर स्त्रियां, सम्पन्न देश, शत्रु-राज्य के “राक्षस”, कूच करती हुयी सेनाएं, शौर्य से गूँजते युद्धस्थल, बंदियों का बध और राज्याभिषेक – मेरे सामने इन कहानियों का यही विश्व उभरता है।

लेकिन देश-विजय और आखेट-आक्रमण को जाने वाले राजाओं की शौर्य और ऐश्वर्यमयी दुनिया का एक और पक्ष भी है: उनके दरबार और महल छली, जालसाज सामंतों-मंत्रियों. रानियों और रखैल से भरे हैं। वहां स्वयं देवी-देवता. भूत-प्रेत उतने नहीं हैं जितने उन्हें सिद्ध कर लेनेवाले तांत्रिक, जोगी, जादूगर इनमें सहायक होते हैं। आधि दैविक शक्तियां स्वप्न या किसी जंगल के एकांत में ही राजा को सावधान करती हैं क्योंकि कब बेटा बाप को मारकर सिंहासन ले लेगा। कब रानी मंत्री के साथ संबंध बनाकर उसे राजा बना देगी। कब कोई ऋषि या जादूगर आकर राजा से शहजादी की मांग कर बैठेगा या कब दुश्मन के जासूस महलों में घुसकर सरदारों को बुला लेंगे-इसका कोई ठीक नहीं है। धर्म-अधर्म के द्वन्द्व की जगह न्याय-अन्याय, नीति-अनीति, स्वामिभक्ति और विश्वासघात, सतीत्व और दुराचारिता का संघर्ष ही यहां प्रमुख हो गया है। स्त्रियों की चरित्रहीनता और दरबारी भ्रष्टाचारों से भरी कहानियां ही मध्ययुग की हर रात में बिखरी हैं चाहे बेताल-विक्रमादित्य को विलक्षण प्रश्नों के निमित्त पचीस बार एक नई कहानी सुनाने को बाध्य करें या बत्तीस पुतलियां राजा भोज की बत्तीस बार नींद हराम करें या तोता और मैना रोज पुरुष और नारी कि सच्चरित्रता, शील की तुलना को प्रतिस्पर्धा का विषय बनाएं। चाहे मलिका शहराजाद हर रात शहरयार को एख नई दास्तान सुनाकर अपनी मौत हजार रात टालती रहे या हातिम मुनीरशामी की प्रेमिका के हर सवाल के लिए दुनिया भर की खाक छानता फिरे-कहानी एक ही है और वही उस ऐश्वर्यशाली समाज की रीढ़ है। राजा और सामंत नई राजकुमारियों, वेश्याओं, नगरवधुओं के पीछे पागल हैं. शिकारों या चढ़ाइयों में उलझे हैं। रानियां दासों, सरदारों या ख्वाजा-सराओं के साथ सोती हैं. मंत्री शत्रुओं से मिले हैं और सज्जन आदर्श राजा वेश बदलकर राज्य की स्थिति देख रहे हैं ... आगे जाकर इन्हीं कहानियों की चरम परिणति रेनाल्ड के “लन्दन दरबार रहस्य” के पोथों से दिखायी देती है। हां, अब इन कहानियों में सौदागर.व्यापारी और श्रेष्ठियों का प्रवेश भी ही गया है। यूरोप में ये कहानियां राज्य दरबारों के साथ-साथ चर्च और पोप-पादरियों के आस-पास भी चलती हैं।”<sup>5</sup>

लेखक का संवेदन संस्कार रूप में अपने परिवेश को ग्रहण करता है; वह उसी में जीता और सांस लेता है। इसलिए किसी कालखण्ड में लिखी गयी रचना पर उस काल और परिवेश का रंग तो रहता ही है। देश की स्वतंत्रता से पहले की कहानियों और बीस पच्चीस बरस बाद की कहानियों में निश्चय ही इस दृष्टि से अंतर पाया जाता है। कहानी की यात्रा में इस तरह के पड़ाव या मील के पथ्य तो नहीं आते कि हम कहें की अमुक घटना के बाद कहानी ने अपना रूप और कथ्य बदल लिए। परम्परागत मूल्यों और मान्यताओं का प्रभाव एकाएक शिथिल पड़ गया। ऐसा नहीं होता। भले ही लेखक कितना ही परंपरा को नकारता रहे, वह किसी न किसी रूप में बनी रहता है और हमारे बदले हुए परिवेश में धुली मिली रहती है पर बदलते वक्त के साथ उनके प्रभाव में शिथिलता सी आने लगती है। तब एक नयी दृष्टि, एक नयी पकड़ का भास होने लगता है।<sup>6</sup>

इस तरह प्रत्येक कालखण्ड के साहित्य पर उसके परिवेश का रंग रहता है। उसमें हम जिंदगी की एक खास धड़कन महसूस कर पाते हैं। यह सही है कि साहित्य का रस हम कालखण्डों के आधार पर नहीं लेते। ऐसा होता तो हम केवल अपने ही कालखण्ड में लिखी कहानियां पढ़ते। इन भिन्नताओं के रहते हुए भी एक काल का साहित्य दूसरे काल के साहित्य से अलग नहीं हो जाता। उनके भीतर पायी जाने वाली गहरी मानवीय संवेदना उन्हें एक दूसरे से जोड़े रहती है। यह मानवीयता ही साहित्य को कालेतर बनाती है। शताब्दियां बीत जाने पर भी उसे पुराना नहीं पड़ने देती। यह मानवीयता साहित्य को समयातीत भी बनाती है और समय सापेक्ष भी। जो साहित्य अपने काल में संगत होता है वह इसी मानवीयता के बल पर, बाद में भी सार्थकता लिए रहता है। पर जहां साहित्य में मानवीयता के स्रोत सूखने लगे वहां वह अपने काल में ही असंगत पड़ते लगता है। बाद का तो कहना ही क्या।<sup>7</sup>

यदि हम उस आरंभिक को से लेकर जब कहानी ने तिलिस्म और ऐयाशी का दामन छोड़ा और यथार्थ के धरातल पर उतरी आज तक की उसकी यात्रा पर नजर दौड़ाये तो हम उसे अधिकाधिक समाजोन्मुख होता हुआ ही पाते हैं। इस मानवतावादी समाजोन्मुख विकास के अनेक चरण रहे हैं। वह भी जमाना था जब उपदेशात्मक कहानियां लिखी गयी और प्रत्येक कहानी के साथ नैतिक दुमछुल्ला जोड़ा गया। फिर वह चरण भी आया जब कहानी व्यक्ति और परिवार के सीमित दायरों को लांघ कर समाज के व्यापक क्षेत्र में आयी। जब व्यक्ति जनसमूहों का प्रतिनिधित्व करने लगा और घटनाओं का सरोकार भी व्यक्तिगत जीवन से न रहकर समाज के साझे ध्येयों और लक्ष्यों से जुड़ने लगा। फिर एक और चरण आया जब समाज के अन्दर पाये जानेवाले अन्तर्विरोध और विसंगतियां और उनके पीछे काम करने वाले आर्थिक और सामाजिक तत्व इसका विषय बने। जब कहानी समस्या प्रधान बनने लगी, जब समाज भी एक इकाई न रहकर अपने-अपने हितों के लिए जूझनेवाली वर्गों के संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में देखी और समझी जाने लगी और कहानी के पाल माल व्यक्ति न रहकर अपने-अपने वर्गों का प्रतिनिधित्व करने लगे। और इस तरह समाजोन्मुख यथार्थ के साथ नये-नये आयाम जुड़ते गये और यह प्रक्रिया अभी भी चल रही है।

कहानी ने अपनी जमीन को नहीं छोड़ा न ही अपनी मानवतावादी दृष्टि को ही छोड़ा है। जीवन से सीधा साक्षात् करने की प्रवृत्ति और ज्यादा गहरी हुई, जिससे उसे न केवल अनुमान का ठोस आधार मिला, बल्कि प्रामाणिकता भी मिली।<sup>8</sup>

‘युगो’ की पराधीनता के बाद किसी देश का स्वतंत्र होना ही अपने आप में बहुत बड़ी घटना है। फिर अपने

यहां तो इस घटना के साथ ही देश का विभाजन भी जोड़ा है शरणार्थियों और विस्थापितों के वे काफिले जुड़े हैं जो भूखे-प्यासे, खून से लथपथ एक देश से दूसरे देश में आए.वे सारी हत्यायें और नृशंसताएं भी जुड़ी हैं जो दोनों देशों के लोगों को भुगतनी पड़ीं। लाखों-लाखों के अतीत की जलती चिताएं जुड़ी हैं जहां पिछला सब कुछ भस्म हो गया ... अच्छा भी और बुरा भी – तेजी से विघटित होते जीवन मूल्यों के भू-कम्प जुड़े हैं।

साथ ही खुले आसमान और फैली धरती के बीच आ पड़े लोगों की. सिर पर छत तलाश कर लेने की वह बेचैनी आती है जिसमें पौरुष, प्रयत्न और आपाधापी का अजीब सम्मिश्रण है। रहने के लिए घर बनाने हैं। जीविका के संबंध खोजने हैं और साथ ही उन स्वतंत्र देशों के बीच अपना व्यक्तित्व भी स्थापित करना है जिनकी विरादरी में हम अब सगर्व शामिल हो गये हैं।<sup>9</sup>

आजादी के बाद हमारे परिवेश में बहुत सी तब्दीलियां हुयीं। हमारे “स्थूल” परिवेश में भी और तदन्दर हमारे “भावनात्मक” परिवेश में भी अथवा हमारी “मानसिकता” में भी। आजादी से पहले, भावनात्मक स्तर पर पूरी पीढ़ी को पीढ़ी स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़ी थी और लाखों लाख लोग उसमें सक्रिय भी थे। आजादी के बाद ये लाखों लाख लोग सहसा निष्क्रिय हो गये. देश का संचालन सरकार और नौकरशाही. पुलिस और फौज करने लगी। व्यवस्था और जनसाधारण के बीच एक प्रकार की दूरी बढ़ने लगी। राष्ट्रीय जीवन में अवसरवादिता बढ़ने लगी और जनता को लगा कि यह वह आजादी तो नहीं है जिसके हम सपने देखा करते थे।

“बेशक, आजादी के बाद, आजादी के पहले वाली स्थिति नहीं रह सकती थी। स्वतंत्रता के लिए लड़ना एक बात है और स्वतंत्रता की संभावना, उसे सुदृढ़ बनाना, प्रशासन चलाना राष्ट्रीय जीवन के लिए नए-नए आधार स्थापित करना बहुत बड़ा काम है जो एक दिन में पूरे नहीं किए जा सकते। हम शायद जरूरत से ज्यादा उतावले हो रहे थे। नदियों पर बांध बनाने में. कल-कारखाने खड़े करने में, धरती की कोख में से खनिज पदार्थ निकालने में, कृषि और उद्योग के विकास में, इन बातों में वक्त लगता है। हजारों साल की गरीबी एक दिन में छू-मंतर नहीं हो जाती। पर इस सबके पीछे साझे प्रयास की भावना नहीं थी। और फिर जीवनयापन उत्तरोत्तर कठिन होता जा रहा था। और व्यवस्था में कोई वांछित परिवर्तन नहीं हो रहा था।

इसके साथ जीवन की जटिलताएं भी बढ़ीं। असामनता बढ़ने लगी। सामाजिक जीवन में अन्तर्विरोध और विसंगतियां बढ़ने लगी। जनसाधारण का जीवन संघर्ष भी, बढ़ती कीमतों और बेरोजगारी के कारण और अधिक जटिल होने लगा। इसका असर हमारे सामाजिक जीवन और हमारी दृष्टि पर पड़े बिना नहीं रह सकता था। साहित्य में संशय और अस्वीकृति के स्वर सुनायी देने लगे। कहीं-कहीं पर तो यहां तक मोहभंग हुआ कि जीवन ही निरर्थक नजर आने लगा। परम्परागत मान्यताओं और मूल्यों पर से विश्वास उठता जान पड़ने लगा। फिर भी साहित्य के मानवीय स्वर बहुत कुछ बने रहे। यह वही दौर था जब कहानी के क्षेत्र में अलग-अलग नामों से अनेक “आंदोलन” चले. जिनका चरम बिन्दु “अकहानी आंदोलन” को कहा जा सकता है; जिसमें न केवल नैतिक मूल्यों को नकारा गया बल्कि कहानी के रूप और गठन को भी तोड़ डालने की कोशिश की गयी।<sup>10</sup> हिन्दी कहानी को लेकर विगत दशकों में जो आंदोलन चलाए गए उनमें अधिकांश आंदोलनों के मूल में नेतृत्व की महत्वाकांक्षा. आत्मप्रचार और स्वयं को प्रतिष्ठित करने की लालसा रही है। यदि आंदोलन व्यापक और वैचारिक धरातल पर आधारित हो और

स्वस्थ सामाजिक उद्देश्यों के लिए प्रतिश्रुत हो तो निश्चय ही नव लेखन को उससे एक अनोखी ऊर्जा मिलती है। छोटे-छोटे व्यावसायिक स्वार्थों के आत्मप्रसार के लिए खड़े किए गए आंदोलन स्वयं अपनी मौत मर जाते हैं और नव लेखन को दिगभ्रमित करते हैं।<sup>11</sup>

हिन्दी कहानी में यथार्थवाद को सही अर्थों में नयी कहानी के कहानीकारों में से कई रचनाकारों ने विकसित किया। आजादी के बाद के दौर में इन कहानीकारों को यह दिखायी देने लगा कि यथार्थ वही नहीं है जो ऊपर-ऊपर दिखायी दे रहा है। यथार्थ एक सीधी रेखा भी नहीं है और न वह फोटोग्राफिक तस्वीर है। सामाजिक झूठ से मुक्ति की तलाश पहली बार नयी कहानी को दौर में शुरू हुयी। यथार्थ की बहुआयामी होने का अहसास नये सिरे से इस दौर में हुआ।<sup>12</sup>

नयी कहानी आंदोलन के खीच क्रियाशील चिंतन ने लेखकों को अपने सामाजिक संदर्भ से नये रूप में जुड़ने की प्रेरणा दी। लेखकों में इस बात का अहसास हुआ की उन्हें पुरानी रूढ़ियों और परंपराओं के सम्मुख प्रश्न-चिन्ह लगाकर एक नयी व्यवहार पद्धति को रेखांकित करना है। इसके अनुसार सम सामयिक अनुभव के विशिष्ट पक्षों को उनकी असलियत में परखते हुए अनुभवों की विविधता के बीच इतिहास की द्वंद्वत्मक प्रक्रिया को पहचानना सार्थक लेखक की आवश्यक शर्त बन गया। व्यक्तियों की विशिष्ट मनोदशाओं, भावनात्मक समस्याओं, संस्कारबद्धता और कुंठाओं के सही विश्लेषण के लिए सामाजिक संदर्भ और परिप्रेक्ष्य की बात को उठाया जाना अनिवार्य समझा गया ताकि उपरोक्त अनुभव-पक्षों के बीच का सामान्य सांस्कृतिक आधार स्पष्ट हो और मूल्यों की लड़ाई को तरतीब से चलाया जा सके। कहने की आवश्यकता नहीं की इस तरह नयी कहानी की संगठित रचनात्मक तथा वैचारिक क्रिया ने सामंती मूल्यों, सामाजिक विवेकहीनता और मनोविज्ञान की आड़ में काम करनेवाली रहस्यवादिता को अनावृत्त किया और सांस्कृतिक प्रश्नों को सामाजिक परिवेश के बीच रखकर देखने की सार्थक परंपरा विकसित की।<sup>13</sup>

हमारी अपनी पीढ़ी और उससे वरिष्ठ पीढ़ी में एक समानता थी कि इन दोनों पीढ़ियों का लेखन आदर्श प्रेरित रहा। जहां वरिष्ठ पीढ़ी का लेखन देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्वकाल से चला आ रहा था और उसमें लक्ष्य प्राप्ति की ललक थी। पूर्वकल्पित निष्कर्षों तक पाठक को ले जाने का आग्रह था। वहीं हमारी पीढ़ी एक नये समतामूलक समाज का स्वप्न देखती थी। वह अपेक्षाकृत अधिक आत्मीय भाव से अपने परिवेश को चित्रित कर अपने कथ्य को समृद्ध करती थी। उसके पाल अधिक सजीव और अधिक विश्वसनीय लगते थे। शिल्प के स्तर पर भी पीढ़ियों की इस मानसिक बनावट का प्रभाव पड़ा। पुरानी पीढ़ी के कुछ प्रतिनिधि कहानीकारों की कहानियों का शिल्प यांत्रिक प्रतीत होता है। उनके पाल लेखक द्वारा अपनी स्थापनाओं के लिए गढ़े हुए मोहरे प्रतीत होते हैं। यद्यपि उनके कथ्य में पैनापन है। हमारी पीढ़ी ने शिल्प को लेकर अधिक प्रयोग किए और अपने कथ्य के अनुरूप भाषा, प्रतीक और बिम्बों का उपयोग किया।<sup>14</sup>

नयी कहानी के लेखकों तथा उससे जुड़े विचारकों की राय में मानव-अनुभव को एक विशेष विचार-संयोजन के अनुरूप निर्मित करने की कोशिश कलात्मक रूप से गलत थी। अनुभव को “निर्मित” करने की बजाय उसकी मूलवस्तु का उद्घाटन अधिक मूल्यवान था - निर्मित करने का अर्थ था यांत्रिक लेखन के लाजिक में बंधकर फार्मूलाबद्ध कहानियां लिखना, जबकि अनुभव की मूलवस्तु के उद्घाटन से कहानी-कला एक जीवंत अनुभव संसार की गतिमयता को उभार सकती थी।<sup>15</sup>

नयी कहानी आंदोलन ने आजादी के बाद के लेखन में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और तत्कालीन सृजनशीलता को नया अर्थ और स्वरूप दिया। यह नयी कहानी की ही संगठित गतिविधि का परिणाम था कि छठे-सातवें दशकों के प्रायः सभी प्रतिभावान लेखक इस आंदोलन से प्रभावित होकर अपनी रचनाओं के बीच सार्थक संदर्भों की खोज में प्रवृत्त हुए। तभी वे व्यापक पाठक समुदाय में उदार मानसिकता और विचारशीलता का प्रसार कर पाए। कितने ही अछूते और साधारण विषयों को इन लेखकों ने अपनी रचनाओं में गरिमामय स्थान दिया और साहित्य के केन्द्र में फिर से साधारण जन तथा उसकी समस्याओं को प्रतिष्ठित करके साहित्य का जनवादीकरण किया। इस प्रकार कहानी अनायास ही अपनी पिछली रहस्यमयता, मनोवैज्ञानिक दुर्बोधता, संभ्रातता तथा भव्यता के जाल से निकलकर सामाजिक अनुभवों के सुपरिचित दायरे की ओर मुड़ी।<sup>16</sup>

नयी कहानी के आग्रहों पर, उसकी प्राथमिकताओं पर अलग से बार होनी चाहिए। वह अपनी समकालीन प्रगतिशील रचना से लग होना चाहती है क्योंकि प्रगतिशील रचना उसे अमूर्त बनी बनायी। फार्मूलावादी और यांत्रिक प्रतीत होती है। नयी कहानी के रचनाकारों राय में एक विचार को, चाहे वह सामाजिक ऐतिहासिक ही क्यों न हो; मानव जीवन पर, वास्तविक मानव संबंधों पर आरोपित नहीं किया जा सकता।<sup>17</sup> नयी कहानी का अमूर्त-विरोध समझ में आता है। इस विरोध की प्रक्रिया में ही हमें “गुलरा का बाबा”, “जिंदगी और जोंक”, “डिग्री कलेक्टरी”, “चीफ की दावत”, “कोसी का घटवार”, “प्रश्नवाचक आकृतियाँ”, “टूटना”, “यही सच है”, “नीली हील”, “वापसी” जैसी कहानियाँ उपलब्ध होती हैं। ये सभी लेखक छठे-सातवें दशकों के उस तीखे साहित्यिक दौर में अपनी परिवेश की सच्चाई को ईमानदारी से पहचानने की कोशिश करते हैं।<sup>18</sup>

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद सार्थक कहानी लेखन की दिशा में एक गंभीर और महत्वपूर्ण प्रयास होने के कारण नयी कहानी आंदोलन से संबद्ध लेखकों ने अनेक सशक्त कहानियाँ लिखीं – यही नहीं उन्होंने सामाजिक यथार्थ के कुछ ऐसे भी आयामों की रेखांकित किया जिनकी ओर पहले के लेखकों का ध्यान पूरी तरह नहीं गया था। मसलन, मध्यवर्गीय जीवन-स्थितियों की नयी समाज संरचना के संदर्भ में परीक्षा और व्याख्या एक जरूरी काम समझा गया। यह सही है कि प्रेमचंद से लेकर प्रगतिशील लेखकों की पहली पीढ़ी से मध्यवर्गीय पात्रों को न तो यथेष्ट सहानुभूति मिलती थी और न ही उनकी भाव प्रक्रिया को निकटता से समझने की कोशिश दिखलाई पड़ती थी। इसके विपरीत मार्कण्डेय, शेखर जोशी, भीष्म साहनी और राजेन्द्र यादव जैसे नयी कहानी के लेखकों ने मध्यवर्गीय समाज की विशिष्ट सत्ता को स्वीकार करके उसकी अपेक्षाकृत अधिक विचारशीलता, भावप्रवणता और कोमलता की पहचान विकसित की।<sup>19</sup>

नयी कहानी की शक्ति और सीमा, उसकी अपील और कमजोरी का मूल स्रोत वह प्रगतिशील समझ थी जो शुद्धतावादी प्रगतिशील चिंतन के विरुद्ध किंचित प्रतिक्रिया करती हुई मध्यवर्गीय चिंतन की ओर अनावश्यक रूप से झुक गयी थी और इस तरह अपना अपेक्षित चरित्र खोकर बूजुर्ग प्रगतिशील समझ का अंग बन गयी थी।<sup>20</sup>

साहित्य का पाठक नयी कहानी की रचनाओं को पढ़कर अपनी व्यापक परिवेश से दूर होने लगता है। यह अधिक से अधिक उस एकमात्र अहसास का वाहक बन जाता है जो लेखक ने कहानी में प्रस्तुत किया है।... होता यह है कि धीरे-धीरे नयी कहानी का पाठक और लेखक किसी सामान्य तथा समाज में व्यापक रूप से प्रतिष्ठित जिंदगी की

तरफ नहीं; एक और जिंदगी की तलाश में भटकने लगता है। उसके लिए अपने देश की गरीबी, बेकारी, शोषण और अन्याय से जुड़ी सामान्य यद्यपि बेहद समस्यामूलक रात नहीं; लंदन की रात आकर्षण का केन्द्र हो जाती है। धीरे-धीरे बात यहां तक बढ़ जाती है कि जाने-देखे रास्ते और पगडंडियां, परिचित मानव चेहरे, सामान्य व्यक्तित्व अनदेखे अनजान पुल बन जाते हैं। आत्मीय संबंध निरर्थक होकर किसी एक-दूसरे गैर-आत्मीय संबंध की ओर इशारा करने लगते हैं और दिशाएं स्पष्ट होने की बजाय खोई हुई नजर आती है।<sup>21</sup>

मुक्तिबोध ने नई कहानी टिप्पणी करने हुए लिखा है - “अगर नई कहानी का मतलब पानी के भीतर घुसकर उसमें डूबकर फिर आंखें खोलना है तो मैं बता दूँ कि ज्यादा से ज्यादा एक धुंघ दिखाई देगी और आंखों की तकलीफ तो होगी ही. वे देख भी नहीं सकेंगी।<sup>22</sup> नयी कहानी के कथाकारों ने यथार्थवाद को किसी संकरे दायरे में जाकर नहीं छोड़ा हालांकि मोहन राकेश, कृष्ण बलदेव वेद, निर्मल वर्मा और कमलेश्वर सरीखे दो-चार कहानीकार ऐसे जरूर थे जो अस्तित्ववाद के टोटके उधार लेकर हिन्दी कहानी पर आधुनिकतावाद की छाप लगा रहे थे और उन्होंने एक हद तक उसमें फार्मूलेबाजी शुरू कर दी थी। इस प्रवृत्ति को हिन्दी कहानी को खोयी हुयीं दिशाएं ही मानना चाहिए; अन्यथा नयी कहानी ने जीवन के विभिन्न आयामों को कलात्मक रूप देकर हमारी यथार्थवादी परंपरा को समृद्ध किया है। उसमें गांव, अंचल, कस्बे, महानगर के बीच जी रहे आदमी की व्यथा कथा कही गयी। कला के नये-नये उपकरणों का इस्तेमाल करते हुए हिन्दी कहानी को विश्व स्तर के साहित्य के समकक्ष पहुंचाने में उस दौर के योगदान को भूलना भारी भूल होगी।<sup>23</sup>

यह एक रोचक तथ्य है कि नई कहानी आंदोलन के दौरान जो कहानीकार अधिक शोर मचाते हुए आए थे। आज समय की लहरों पर न उनकी कहानियां छन कर आ सकीं और न ही उनके कथा लेखन में निरंतरता रह पाई। जिस महान विरासत को उन्होंने नकारा था। उस कतार के हर लेखक ने मरते दम तक कहानी लिखी थी। उनमें निरंतरता ही नहीं, अर्थवत्ता भी थी। जबकि नई कहानी आंदोलन के मुखर कहानीकारों में कुछ फिल्म में भागे, कुछ टीवी में, कुछ संपादक बन गये और कुछ उतने ही घरेलु हो गये जितने बोहेमियन थे। लिखना जारी रह पाया सिर्फ उनका, जो बदलते यथार्थ और कहानीकारों की नई कतार के साथ चल सके और जो “कहानी का अंत” नहीं; “कहानी का पुनर्निर्माण” चाहते थे।<sup>24</sup>

नयी कहानी आंदोलन के समाप्त होने के साथ-साथ हिन्दी लेखन में उस मध्यवर्गीय विवेकहीनता का जोर बढ़ा जो शासकीय प्रणाली के संकट की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति थी। यद्यपि नयी कहानी के विखराव के व्यापक सामाजिक कारण थे। फिर भी एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि इतने लंबे काल तक चलनेवाले और इतने समर्थ और प्रतिभावान लेखक प्रदान करनेवाले इस आंदोलन ने हिन्दी के पाठकवर्ग में वह वैचारिक आधार क्यों नहीं पैदा किया जो अकहानी तथा अन्य विवेकहीन आंदोलनों को प्रभावी रूप से रोक सकता? असल में यह अकारण नहीं था कि जब नयी कहानी का प्रभाव क्षीण हो रहा था तभी देश के राजनीतिक फलक पर प्रतिक्रिया वादी शक्तियां बूर्वा जनतांत्रिक शक्तियों पर प्रहार करने लगी थीं और मध्यवर्ग को विकास की स्वप्नशीलता के स्थान पर मूल्यहीनता और अवसरवादिता का दर्शन प्रदान कर रही थीं। नयी कहानी का आधुनिकतावाद भी इस नयी स्थिति में स्पष्ट रूप से मानव विरोधी और तर्कहीन हो उठा था और यथार्थ को चमत्कारिक रूप से प्रस्तुत करके पाठकों की चेतना को



कुंठित करने लगा था। श्रीकांत वर्मा, दूधनाथ सिंह, राजकमल चौधरी, कृष्ण बलदेव वैद आदि इस प्रवृत्ति के स्पष्ट उदाहरण थे।<sup>25</sup>

सातवें-आठवें दशकों का कथा-लेखन जितना अपने समकालीन और पूर्ववर्ती साहित्य रचना के प्रभावित-अनुशंसित या संबंधित रहा है, उतना ही वह अपने सामाजिक परिवेशों के प्रश्नों से जूझने की प्रक्रिया का भी हिस्सा रहा है। मसलन् अकहानी का दौर न सिर्फ नयी कहानी की संवेदनधर्मिता और अनुभववद्धता के सामने प्रश्नचिन्ह रख रहा था। बल्कि उस माहौल की तरफ भी इशारा करता था जो चीन-भारत युद्ध के बाद नये सामाजिक-राजनीतिक संयोजन और कांग्रेस की चुनावी असफलता से पैदा हुआ था।<sup>26</sup> साठोत्तरी वर्षों में अकहानी नाम से जिस कहानी आंदोलन को जाना जाता है, वह अकविता आंदोलन की ही तरह निम्नमध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के अराजक क्रोध का एक अनपढ़ प्रतिफलन था। उसमें वैचारिक स्तर पर सर्वनिषेधवाद था। इस व्यवस्था के सांस्कृतिक पतन और सड़ांध का ही वह नंगा प्रतिविम्ब था। उसने हमारे यहां की यथार्थवादी परंपरा में कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं दिया। अलबत्ता कुछ ऐसे विकार जरूर पैदा किए जिनसे हमारी हिन्दी कहानी आज भी मुक्त नहीं हो पायी है।<sup>27</sup>

अकहानी का आक्रोश उस मध्यवर्गीय साहित्यबद्धता की तरफ था जो समाज की सच्चाई को व्यक्तियों के संबंधों की तीव्रता एवं गहराई में पहचानती थी। अकहानी ने इस रवैये का जम कर विरोध किया और पुराने गरिमामंडित, भावप्रवण और संवेदनशील कथा-पात्रों की सीमा को उजागर करने की गरज से उस पूरी व्यवहार-पद्धति पर चोट की जो मध्यवर्ग के जीवन से जुड़ी हुई थी। इस दौर में विधागत विशिष्टता पर प्रहार हुआ। आदर्शशीलता का पर्दाफाश करने की कोशिश की गई और देश के निर्माण की अवधारणा का मजाक उड़ाया गया। लेकिन दिलचस्प बात यह है कि इस आक्रोश और असंतोष की जड़ें स्वयं मध्यवर्ग के अवरुद्ध और असफल मानस में थी – मध्यवर्ग समाज शक्तियों के साथ अपना तालमेल बैठाने में सक्षम नहीं था। राजकमल चौधरी, उस वक्त के दूधनाथ सिंह और मुद्राराक्षस तथा बाद में सामने आनेवाले लेखक ज्ञानरंजन, काशीनाथ सिंह आदि में अकविता के रवैये की गिरफल एक अरसे तक उनकी प्रतिभा और रचना को हानि पहुंचाती रही है। कारण यह है कि अकहानी में संभावना के स्तर पर वह सकारात्मक विचार प्रणाली नहीं थी जो इस प्रवृत्ति से जुड़े लेखकों के समाज विरोध को सकारात्मक बनाये, उसे दिशा दे। अकहानी सिर्फ नकारात्मक ढंग से हमें बतलाती है कि साहित्य के सरोकार मध्यवर्ग की भूमिका सीमित है। उसके अनुसार हमें समाज की संरचना पर, उसके मूल संबंधों पर प्रश्न – चिन्ह लगाना होगा। फिर भी, अपनी वास्तविकता में अकहानी उस मध्यवर्गीय विवेकहीनता को ही सामने लाती है, जो यदि ज्यादा देर तक चलती तो हमारी पूरी मानवतावादी साहित्यिक परंपरा के लिए ही समस्या बन जाती।<sup>28</sup>

हिन्दी कहानी में सत्तर के आसपास एक नयी तब्दीली आयी। हिन्दी के उभरते रचनाकारों ने जहां एक ओर अराजक विद्रोह की व्यर्थता को पहचाना। वहीं शोषित उत्पीड़ित जन से प्रतिबद्ध होने को कला के लिए जरूरी माना। इस दौर में आधुनिकतावाद और सर्वनिषेधवाद के विरुद्ध आलोचना में भी विचारधारात्मक संघर्ष छिड़ा और एक पूरी पीढ़ी खुले रूप में मजदूरवर्ग की विचारधारा मार्क्सवाद लेनिनवाद – से खुद को जोड़कर रचना कर्म में प्रवृत्त हुयी। हिन्दी साहित्य के इस दौर को अब जनवादी साहित्य आंदोलन के रूप में पहचाना जाने लगा है। इस दौर की हिन्दी कहानी को भी अब जनवादी कहानी जैसा नाम दिया जाने लगा है हालांकि मैं नयी कहानी, अकहानी आदि

की तरह जनवादी कहानी जैसी किसी श्रेणी को मानने के पक्ष में नहीं हूँ।<sup>29</sup>

सातवें दशक के अंतिम वर्षों में एक ओर देशी पूंजी का संकट तीव्र हुआ, तो दूसरी ओर व्यापक जनसमुदाय अपनी समस्याओं और कठिनाइयों को समसामयिक राजनीति के जोड़कर देखने लगा। इस कारण जनवादी राजनीति की सार्थक शुरुआत के साथ-साथ हिन्दी कहानी एकबार फिर समाज के मूलभूत प्रश्नों के विषय में सचेत हुयी। इस समय तक न केवल लेखकों के आधुनिकतावादी आग्रह क्षीण हो गये थे बल्कि व्यक्तिवादी अहन्मयता से ग्रस्त लेखन में प्रकट होनेवाले निरर्थकता के तीखे अहसास से अनेक रचनाकारों में आत्ममंथन की प्रक्रिया आरंभ हुई। नई कहानी आंदोलन के दौरान सशक्त लेखन करनेवाले अनेक गंभीर कहानीकारों ने मध्यवर्गीय जीवन-संदर्भों से हटकर व्यापक प्रश्नों पर कहानियां लिखीं; ताकि कहानी न केवल प्रगतिशील काल की स्पष्ट सांस्कृतिक भूमिका से प्रेरणा ले, बल्कि अपनी मूलवस्तु में उन केन्द्रीय सामाजिक अनुभवों को भी रेखांकित करे जो कहानी-विकास के दूसरे दौर में प्रेमचंद जैसे जागरूक लेखकों की रचनाओं में लगातार प्रस्तुत किये जाते थे। इन रचनाओं में मार्कण्डेय की “बीच के लोग”, भैरव प्रसाद गुप्त की “मंगली की टिकुली”, अमरकांत की “बस्ती”, शेखर जोशी की “मेंटल” आदि को लिया जा सकता है। ये कहानियां न केवल नयी कहानी आंदोलन के बहुत से आग्रहों से मुक्त हैं बल्कि स्थितियों और पात्रों के चुनाव में भी अधिक जागरूक हैं और प्रायः किसान-मजदूर वर्ग के शोषण, वर्ग संघर्ष, शासकीय विचारधारा की समाज-विरोधी प्रकृति तथा राजनीति की बूर्जा विकृतियों का स्पष्ट चित्रण करती है।<sup>30</sup>

सत्तर के आसपास वजूद में आयी कहानी की इस धारा का सकारात्मक पक्ष यह था कि एकबार फिर रचनाकारों का ध्यान आम जन की ओर गया। मजदूर वर्ग की क्रांतिकारी भूमिका की पहचान होने लगी और मौजूदा व्यवस्था को बदलकर नयी व्यवस्था, सच्चे अर्थों में जनता की जनवादी व्यवस्था का स्वप्न जगाने की कोशिश हमारे साहित्य में हुई। इसकी वजह यह थी कि वातावरण में “क्रांति” से लेकर “संपूर्ण क्रांति” के नारे गूँज रहे थे और इसका असर रचनाकारों पर पड़ रहा था।<sup>31</sup>

जनवादी प्रगतिशील कहानी का कोई बना-बनाया, पूर्व निर्धारित साफ-सुधरा रूप नहीं है। उसका कोई ऐसा आदर्श माडल नहीं है जिस तक पहुंचने की कोशिश हर रचनाकार को करनी पड़े। व्यापक तौर पर यथार्थवाद भी अगर उसकी पूर्व शर्त है तो केवल इस अर्थ में कि लेखक रचना करते समय अपने समकालीन यथार्थ के प्रति यथाशक्ति अभिमुख हो। उसके प्रश्नों को अपने ढंग से और बेबाकी के साथ विश्लेषित-व्याख्यायित आत्मसात करने की प्रवृत्ति रखता हो। यानी जनवादी रचनाशीलता में सामाजिक सरोकारों के साथ-साथ विविधता का गुण प्रमुख होता है। न केवल अनेक रचनाकार विभिन्न रूपों में, अपने व्यक्तित्वों, अपनी संवेदनाओं को भाषा, अनुभव-चयन और संयोजन के माध्यम से व्यक्त करते हैं, बल्कि एक रचनाकार, अपनी विभिन्न रचनाओं में व्यक्तित्व के अलग-अलग पक्षों को प्रस्तुत करता है। कितनी ही तरह के प्रयोगों की मदद लेता है ताकि अपनी साहित्यिक-सांस्कृतिक भूमिका को अधिकाधिक बेहतर ढंग से और क्षमता के साथ निभा सके। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसा करते वक्त वह असल में उन कठिनाइयों को भी सामने लाता है जो अंततः हमारे सांस्कृतिक-सामाजिक परिवेश की मूल समस्याओं से जुड़ी होती है।<sup>32</sup>

अधिक साहसिक, प्रतिबद्ध अन्वेषणपरक और प्रयोगशील होकर ही जनवादी कहानी यथार्थ को तीव्रता से

प्रतिबिंबित कर सकती है। तभी वह सामाजिक एवं वैचारिक के साथ-साथ सौंदर्यधर्मी अपेक्षाओं को भी पूरा कर सकती है।<sup>33</sup> इधर साहित्य में शेखर जोशी की कहानी “नौरंगी बीमार है” चर्चा के केन्द्र में आई है। एक तरह से यज्ञ कहानी जनवादी रचना की मूल कल्पना को चुनौती देती है। मसलन् यह सवाल कहानी में स्पष्ट रूप से उठता है। लेखक इसके बारे में पर्याप्त सचेत है कि मजदूर वर्ग से आनेवाले पात्र के प्रति क्या रवैया अपनाया जाए।<sup>34</sup> “नौरंगी” के माध्यम से प्रकट होनेवाला लेखकीय रवैया जनवादी कहानी की संभावित मूर्तता और सार्थकता का एक अभिन्न हिस्सा है। इस कहानी में लेखन के ऐसे नये आयाम हैं जो रचनागत पेचीदगी से पाठक का परिचय कराते हैं और विकट प्रश्नों के बीच छोड़कर अपना निर्णय लेने को, अपने ढंग से सोचने को मजबूर करते हैं और यह ऐसे पर्सक्टिव के तहत होता है जिसका अनुशासन कहानी में पूरी तरह स्पष्ट है।<sup>35</sup>

गहराई से देखने पर हर रचना के पीछे एक दृष्टि, उसकी भूमिका और प्रभाव सहज ही देखे जा सकते हैं। रचना का प्रभाव इस बात पर निर्भर करता है कि लेखक का दृष्टिकोण वर्तमान जीवन के बारे में क्या रहा है। इसलिए यह बात निर्विवाद होनी चाहिए कि वस्तुस्थिति की सही समझ और उसके प्रति वैज्ञानिक दृष्टि एक लेखक और आलोचक के लिए अनिवार्य है अन्यथा वह अपनी कृति या विश्लेषण को वांछित ऊंचाओ तक उठाने में असफल ही रहेगा। और इसकी आवश्यकता केवल जनवादी लेखकों को ही नहीं अन्य लेखकों को भी उतनी ही है अन्यथा वे अपनी रचना को केवल कंगाल ही बनायेगी।<sup>36</sup> मुक्तिबोध ने इसीलिए कहा था कि लेखक के सामने पहला सवाल जीवन दृष्टि के लिए संघर्ष का है। विश्व दृष्टि विकसित करने का है।<sup>37</sup> हम जनवादी साहित्यकार जब यह मानते हैं कि जनवादी साहित्य फैसला लेने के असमंजस का साहित्य न होकर फैसला ले चुकने के बाद रचा गया साहित्य है। तो यह फैसला जीवन-दृष्टि के संबंध में लिया गया फैसला है। इसलिए इतिहास के इस चरण में जनवादी क्रांति के संबंध में अपनी समझ को गहराना हमारा पहला कर्तव्य है।<sup>38</sup>

कभी कभी ऐसा भी होता है कि जीवन में गहरी पैठ और इतिहास को विकास-दशा का ठीक ज्ञान न होने के कारण यथार्थ की तस्वीर एकदम निराशाजनक नजर आती है रचनाकार जनता को पराजित, मूर्ख मानकर आसमान के तारों में ही भविष्य देखने लगता है। वह यह देखने की कोशिश ही नहीं करता कि वर्तमान गतिरोध तथा पराजय के बीच निरंतर विकासमान और संघर्षशील आस्था भी है। इसलिए अपने आप में न क्रोध गलत है न घृणा न प्रतिहिंसा, न फरियाद, न पराजय का बोध बल्कि सही समझ का अभाव ही वह फिसलन है जहां से चीजें गलत रूप में पेश होती है।<sup>39</sup>

# शेखर जोशी का रचना संसार

डॉ. अशोक कुमार सिंह

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

शेखर जोशी एक बहुत चुपचाप किस्म के लेखक रहे हैं। न उन्हें कभी अपने बारे में, न रचनाओं के बारे में दावे करने की या वक्तव्य देने की जरूरत महसूस हुई। एक सही लेखक का आत्मविश्वास उनके भीतर रहा आया कि उन्हें जो कुछ कहना है वह उनकी रचनाओं में है और अगर नहीं है तो उसे अलग कहने का कोई मतलब नहीं।<sup>40</sup>

शेखर जोशी प्रेमचन्द की परंपरा के महत्वपूर्ण कथाकार हैं। अपने चार दशकों के लेखन में वे अपने समय के यथार्थ को अपनी कहानियों में चित्रित करते रहे हैं। शब्द और कर्म के बीच निरंतर बढ़ रही दूरी के समय में वे एक ऐसे रचनाकार के रूप में हमारे सामने आये हैं; जहां शब्द जीवन में विश्वास-आस्था का संदेश देते हैं। शेखर जोशी जीवन की जटिल सादगी के यथार्थ के कथाकार हैं। शेखर जोशी का जन्म 10 सितंबर 1934 को अल्मोड़ा जनपद के एक छोटे से गांव ओलियागांव में एक किसान परिवार में हुआ।

शेखर जोशी के लेखन की शुरुआत कविताओं से हुयी और फिर मुख्यतः कहानी पर केन्द्रित रहे। पहली कहानी “दाज्यू” 1953 में अपनी पत्रिका “पर्वतीय जन” के लिए लिखी जो बाद में “संकेत” में प्रकाशित होकर चर्चित हुयी। अपने बारे में वे लिखते हैं – “बचपन के कुछ वर्ष पहाड़ में बीते और बचपन में ही पहाड़ों से विछोह भी हो गया। मां की मृत्यु के पश्चात् बचपन की यह दूसरी बड़ी घटना थी जिसने मन पर गहता प्रभाव डाला। शायद घर और जन्मभूमि से इस कच्ची उम्र में बिछुड़ने की अनुभूति इतनी तीव्र थी कि उस खोये हुए वातावरण के प्रति आज भी वैसी ही ललक अनुभव करता हूं।

अपनी कहानियों के कथ्य और शिल्प के संबंध में कहने के लिए यदि किसी प्रकार की बाध्यता न हो तो मौन रहना ही उचित समझता हूं। शमशेरजी की पंक्ति याद आती है - बात बोलेंगी ...<sup>41</sup> शेखर जोशी का पहला कहानी संग्रह “कोसी का घटवार” में प्रकाशित हुआ था। जिसकी कहानियों ने हिंदी पाठकों-आलोचकों को अपनी और ध्यान आकर्षित ही नहीं कराया था वरन् यह विश्वास भी दिलाया था कि गुटबाजी और आंदोलन से अलग रहकर भी अच्छा लेखन संभव हो सकता है।<sup>42</sup> उनका दूसरा कहानी संग्रह “साथ के लोग” (1978) बीस वर्ष के लंबे अंतराल के बाद प्रकाशित हुआ। उसके बाद “हलवाहा” (1981), “एक पेड़ की याद” (1987), “मेरा पहाड़” (1989), “नौरंगी बीमार है” (1990), “डांगरीवाले” (1994), “प्रतिनिधि-कहानियां” (1994), संकलन प्रकाशित हो चुके हैं।

स्वतंत्रता के बाद समकालीन भारतीय समाज के परिवर्तित स्वरूप के वास्तविक यथार्थ को सर्वप्रथम नए कहानीकारों ने पहचाना और अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। शेखर जोशी का नाम भी इन्हीं तथाकथित नये कहानीकारों के साथ जुड़ा हुआ है। मगर वे नयी कहानी के कथाकार होते हुए भी, नयी कहानी आंदोलन से पूर्णतः

अलग रहे। उन्होंने नयी कहानी के कथाकारों से अलग हटकर अपनी गहरी संवेदना और निजी अनुभूतियों को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। यही कारण है कि शेखर जोशी ने नयी कहानी के कथाकारों से अलग रहकर अपनी तरह से सहज और स्वाभाविक रूप में सृजनात्मक क्षमता का परिचय देकर एक अलग पहचान बनायी है।<sup>43</sup>

शेखर जोशी का रचना संसार स्पष्ट रूप से हमारे समाज के चार बड़े हिस्सों से जुड़ा है -मैदानी गांव. पहाड़ी गांव. शहर का निम्न मध्यवर्ग और मजदूर वर्ग। “डांगरवाले” की भूमिका में वे लिखते हैं - “मेरा यह परिवेश जहां एक और अपार प्राकृतिक सौंदर्य, गीत-संगीत और सांस्कृतिक गतिविधियों से समृद्ध था। यहीं मेरे चारों ओर निपट गरीबी, दैन्य और मानवीय शोषण का जाल भी फैला हुआ था; जिसे कोई संवेदनशील व्यक्ति अनदेखा नहीं कर सकता था। परिवार की सामंती और रूढ़िवादी मान्यताओं से मुक्ति पाना मेरे लिए संभव न होता यदि मेरा परिचय गोर्की, राहुल, प्रेमचंद, यशपाल आदि लेखकों की रचनाओं से न हुआ होता। अपनी अनेक कहानियों में मैंने इस विषमता को रेखांकित करने का प्रयत्न किया है।<sup>44</sup> जीवन की परिस्थितियों ने छोटी उम्र में ही मुझे विभिन्न भौगोलिक और सामाजिक परिवेशों में जीने के लिए विवश किया है। छोटी उम्र में ही मातृविहीन हो जाने के बाद पर्वतीय अंचल के प्राकृतिक सौंदर्य से वनस्पतिविहीन राजस्थान में विस्थापित कर दिए जाने का दुःखद अनुभव और अपने परिचित परिवेश से कट जाने की कष्टप्रद अनुभूतियों ने मेरी संवेदना की धार तेज कर दी। समझ विकसित होने पर अपने निजी अनुभवों को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखने की प्रक्रिया आरंभ होने के कारण जब मैंने 1953-54 में “दाज्यू” कहानी लिखी तो उसका नायक मेरा ही प्रतिरूप था जो अपने परिवेश में विस्थापित होकर अपरिचितों की भीड़ में किसी आत्मीय को खोज रहा था; लेकिन सामाजिक यथार्थ ने उसे अहसास करा दिया था कि आत्मीय संबंधों के मूल में भी वर्गस्वार्थ होते हैं जो मानवीय संबंधों में दरार डाल देते हैं।<sup>45</sup>

जिंदगी की दौड़ में फिर कई उतार-चढ़ाव आए। मेरे जीवन का एक महत्वपूर्ण भाग कारखानों में बीता है। जहां तेल और कालिख में सने कपड़ों में ऐसी विभूतियां छिपी थीं जिन्होंने मेरी जिन्दगी को एक नया ही अर्थ दे दिया। यह मेरा एक आत्मीय संसार बन गया। हमारी रचनात्मकता, हमारे संघर्ष, हमारी खुशी और हमारा दर्द सब साझा था। यहीं मुझे “उस्ताद” मिले जो न चाहते हुए भी अंतिम क्षणों में अपने शागिर्द को काम का गुरु सिखाने को मजबूर थे। यहीं हाथों की “बदबू” में मैंने जिजीविषा की तलाश की। यहीं ईमानदार लेकिन “मेंटल” करार दिए गये लोग थे। यहीं विरोध की आखिरी चिंगारी लिए “जी हजूरिया” किस्म के लोग थे। यहीं “नौरंगी मिस्त्री” था और यहीं मैंने श्यामलाल का “आशीर्वचन” सुना और इन सबको अपनी कहानियों में अंकित कर पाया।<sup>46</sup>

शेखर जोशी की कहानियां सोद्देश्यपूर्ण हैं तथा सामाजिकता के प्रति विशेष आग्रह होने की वजह से समा और जीवन से पूरी तरह जुड़ी हुई है। इसलिए उन्हें सामाजिक परिवेश से अलग करके देखा नहीं जा सकता। समग्र सामाजिक परिवेश की प्रस्तुति अनुभूति और प्रामाणिकता के साथ हुई है। नितान्त परिचित परिवेश और सामाजिक सन्दर्भ, निजी अनुभूति और जीवन यथार्थ इनकी कहानियों में प्रामाणिकता के साथ उपस्थित होता है। यही कारण है कि शेखर जोशी अपनी अनुभूतियों की सीमा के ही अन्दर रहते हैं और अपने आपको अपनी अनुभूतियों के एक निश्चित सीमा से बाहर नहीं जाने देते। वे सामाजिकता के प्रति उदासीन नहीं हैं वरन् सामाजिकता ही उनका मूल मंत्र है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि वे अपनी अनुभूति और सामाजिक परिवेश के प्रति पूर्णतया ईमानदार हैं और

सामाजिक यथार्थ को समय रूप में. प्राथमिकता के साथ अपनी कहानियों में प्रस्तुत कर रहे हैं।<sup>47</sup> शेखर जोशी की कहानियों में न घटनाएं चौकानेवाली होती हैं न स्थितियां न उक्तियां। सब कुछ इतना साधारण इतना सादा होता है कि एकबारगी चकित होकर सोचना पड़ता है कि इस नामालूम से लगनेवाले दैनन्दिन जीवन के हम यों आंख गड़ाकर क्यों देख रहे हैं। वह इतना मूल्यवान इतना अर्थवान कैसे हो गया?<sup>48</sup>

शेखर जोशी की सत्रह कहानियां “मेरा नहाड़” शीर्षक कहानी-संग्रह में हैं। शीर्षक से ही अपनत्व का बोध होता है। कहानियों में पहाड़ अपने समग्र परिवेश के साथ उपस्थित होता है। जहां सिर्फ पर्यटक, नैसर्गिक सौन्दर्य और यात्रा के विवरण ही नहीं हैं बल्कि पहाड़ के निवासियों की अपनी ही जमीन पर आर्थिक रूप से लगातार टूटते जाने का भी चित्रण है। पात्र और परिस्थितियों के माध्यम से पहाड़ सजीव हो उठता है। “यहां पहाड़ अपनी पूरी मौलिकता के साथ मौजूद है जिसके दो-चार भव्य शहर को गर्मियों के सुकून की जगह मानकर हम सैलानियों के भाग्य पर ईर्ष्या करते रहे हैं। इस मिथ से अलग पर्वतीय परिवेश क्या हो सकता है इसकी जिंदा तस्वीर शेखर जोशी ने पेश की है वह हिन्दी कहानी के लिए एक बिल्कुल अपरिचित दुनिया ही कही जा सकती है।” इस धरती से लेखक का राग उससे कम नहीं है जितना राग “रेणु” को पूर्णिया से था लेकिन शेखर की नजर इस धरती के उस सौंदर्य माल पर नहीं है और न वे उसे गद्गद् भाव से लेते हैं बल्कि इस अनंत सौन्दर्य में डूबी पृथ्वी के लोगों की नियति की बदसूरती पर एक गहरा शोक व्यक्त करती। उस संघर्ष की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है जहां आदमी की लड़ाई उन्हीं मुद्दों और जरूरतों के लिए है जिनसे देश जूझ रहा है।<sup>49</sup> “दाज्यू”, “कोसी का घटवार”, “व्यतीत”, “कथा-व्यथा”, “हलवाहा”, “बोझ”, “सिनारियो”, “देविया”, “परिक्रमा”, “तर्पण”, “गलता लोहा”, “गोपुली बुबु” आदि कहानियां इसका साक्ष्य हैं। ये कहानियां मध्यवर्गीय अनुभव के उस दायरे को तोड़ती हैं जहां अब केवल “अलगाव” की कथा-व्यथा जिंदा बची है और शेष सब पुनरावृत्ति के समुद्र में डूब गया है।<sup>50</sup>

शेखर जोशी कृषि व्यवस्था और कृषि संबंधों को ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था की बुनियाद मानते हैं। लेखक जहां कृषि सभ्यता में प्रवेश करता है उसे खेत, फसल, पानी की चिंता पहले सताती है। फसल पर किसान का सुख-दुःख निर्भर करता है। अपनी जमीन और फसल में किसान का अनुराग देखते बनता है। यहां तक कि सामाजिक उत्सव-त्योहारों के समय भी फसल की चिंता उसका साथ नहीं छोड़ती। यह चिंता जीवन के आधार की चिंता है। वह अपनी खेती को बिगड़ने नहीं देख सकता। “रास्ते” में ये तथ्य ध्यान देने लायक हैं। पर इस व्यवस्था में खेतिहर मजदूरों की स्थिति विचित्र होती है। उनके जीवन में स्थिरता नहीं आ पाती क्योंकि उन्हें बंधकर काम नहीं मिलता। ऊपर से सामंती व्यवस्था श्रम का उचित मूल्य भी नहीं देती। अपमान तथा बात-बात पर नयी पाबंदियां लगायी जाती हैं। उनके जीवन को मथ दिया जाता है। वे भयभीत रहते हैं क्योंकि उन्हें कभी भी काम से निकाला जा सकता है। “रास्ते” क दादा दिन शेष होने के कारण काम बंद कर गर जाने की तैयारी करते मजदूरों को डांट कर पुनः काम पर लगा देते हैं। “समर्पण” के शिल्पकार सामंती और उच्चवर्ग की यातना सहने को लाचार हैं। कहानीकार इस व्यवस्था की आंतरिक संरचना को खोजता है।<sup>51</sup>

शेखर जोशी की कहानियों में मजदूर जीवन की कहानियां हिन्दी कहानी में अपना विशिष्ट महत्व रखती है। मेरी दृष्टि में हिन्दी कथा-साहित्य में शेखर जोशी पहले कथाकार हैं जिन्होंने मजदूर जीवन के अनछुये पहलुओं को अपनी

कहानियों में चित्रित किया है। “कहानी” पत्रिका के वार्षिक विशेषांक पर शेखर जोशी की पाठकीय प्रतिक्रिया उनके रचना संसार की तैयारी की सूचना देती है-” ... एक साधारण पाठक की हैसियत से मुझे जो कमी इस विशेषांक को देखकर ही नहीं वरन् हिंदी कथा-साहित्य को पढ़कर खटकती है वह यह है कि जहां हमारा लेखक उच्चवर्ग के ड्राइंगरूम, मध्यवर्ग की घर-गृहस्थी, गांवों के खेत-खलिहान, निम्नवर्ग की झोपड़ियां तथा वेश्याओं की गलियों में अपनी सूक्ष्म दृष्टि लेकर बेझिझक चला जाता है। वहां वह लेखक एक ऐसे वर्ग की अनायास ही उपेक्षा कर देता है जो उसकी रचनाओं को पढ़कर उसमें अपनी छाया भी देखना चाहता है। यह वर्ग है कारखानों, फैक्ट्रियों व मिलों में काम करनेवाली श्रमिक जनता का। सहज ही यह कह कर उपेक्षा नहीं कर दी जा सकती कि इस वर्ग का सदस्य भी तो निम्न अथवा मध्यवर्ग से ही संबंधित है। ऐसा होता होगा और है। परन्तु यह श्रमिक वर्ग अपने दैनिक जीवन का अधिकांश भाग जिस वातावरण में व्यतीत करता है। उस वातावरण की अपनी एक निराली चाल है, निराला रंग है, निराली मान्यताएं हैं और निराले रीति-रिवाज हैं; जो दफ्तरों या बाजारों के रीति-रिवाजों से सर्वथा भिन्न हैं। “छंटनी” और “हड़ताल” के अलावा भी वहां बहुत कुछ है जो मन को पकड़ लेता है। क्या यह आशा की जाय कि भविष्य में यह वर्ग अपनी छाया भी हिंदी कथा-साहित्य में देख पायेगा।<sup>52</sup>

शेखर जोशी ने औद्योगिक संस्थानों से संबद्ध रहने के कारण ही मजदूर वर्ग की घोर गरीबी, अराजकता, घुटन और विवशता और उसकी शक्ति को पहचाना और अनुभव किया है; जो उनकी कहानियों में अपने यथार्थ रूप में अभिव्यक्त हुआ है। क्योंकि स्वयं वे मालिक और मजदूर के परस्पर संबंधों के टकराव और संघर्ष के प्रत्यक्ष दृष्टा रहे हैं। यही कारण है कि शेखर जोशी ने औद्योगिक जीवन को लेकर अनेक जीवंत और महत्वपूर्ण कहानियां लिखी हैं।<sup>53</sup> इसमें एक नई दुनिया की ज्यादा खतरनाक लड़ाई है। यह परिवेश मशीनों पर काम करते, हथौड़े चलाते और तेल की बदबू से भरी वह दुनिया है जिसकी दांव-पेंच जटिल है; जिसकी चालाकी समझना कठिन है और जिसका शोषण इतना मारक है कि लगता है कोई झटके से जिबह नहीं करता। रेत-रेत कर आपके मरण का सुख भी लेना चाहता है। यहां परम्परागत विश्वासों और आधुनिकता के बीच तथा पीछे छुटी सहज दुनिया का मोह और दैत्याकार मशीनों के आगे लाचार हो जाने का अजीब-सा द्वंद्व है। यह काम करते हुए धरती के उन सच्चे श्रमजीवियों की कमजोरी और ताकत, परिवर्तन की चेतना और उससे जुड़ी जरूरी मानवीय हकों की लड़ाई में शामिल चिंता का रचना संसार है। “बदबू” को महसूस करनेवाला वह नौजवान भी जो “बदबू” की दुनिया में अपने लोगों की ओर से लड़ता है लेकिन उस जगह यह लड़ाई मारक बन जाती है कि अपने को भी विश्वास में लेने का जोखिम उसे झेलना पड़ता है। तेल की बदबू आने या न आने का सवाल चेतना के मर जाने या जिंदा होकर फैल जाने का सवाल बन जाता है। “सीढ़ियां” में वे सक्सेना साहब आदमी नहीं “मैनेजमेंट” हैं जो “प्रोडक्शन” बढ़ाने की हविश में चाय के लिए “ब्रेक” भी देने में कष्ट महसूसते हैं। गांव के एक जाने-माने “तरखान” के बेटे होकर भी कारीगरी और श्रम की सच्ची और ठोस दुनिया से जिन्हें उन “सीढ़ियों” ने अलग कर दिया है जो आदमी को आदमी से “मैनेजमेंट” तक ले जाती है।<sup>54</sup> निश्चित रूप से शेखर जोशी ने केवल मजदूरों की समस्याओं तक अपने को सीमित नहीं रखा है; बल्कि भविष्य के मजदूर आंदोलन की राह और उनके संघर्ष का मार्ग भी खोजा है। उन्होंने मजदूर-संगठनों की भूमिका को भी समझने का प्रयास किया है और मजदूरों के भाईचारे की भी खोज है।<sup>55</sup>

“डांगरीवाले” संग्रह की कहानियों मजदूर जीवन के यथार्थ की कहानियां हैं। “इधर साहित्य में “नौरंगी बीमार है” चर्चा के केन्द्र में आई है। एक तरह से यह कहानी जनवादी रचना की मूल कल्पना को चुनौती देती है।”<sup>56</sup>

“बेरोजगारी की समस्या भी शेखर जोशी की कहानियों की महत्वपूर्ण वस्तु है। बेरोजगारी मानवीय भावनाओं को किस तरह से प्रभावित करती है और किस तरह से उसका रूप विस्तार होता है कि समाज व्यवस्था की विसंगतियां एक-एक कर खुलती जाती हैं। इन तथ्यों की वास्तविकता की परीक्षा शेखर जोशी की कहानियों के संदर्भ में की जा सकती है। यह बेरोजगारी न केवल मनुष्य को अकेला दबा देती है; बल्कि वह उसके प्रेम भावनाओं को भी कुंठित करती है। बेरोजगारी से उपजा आर्थिक अभाव प्रेम संबंधों को भी प्रभावित करता है। जीवन संघर्ष में रोमानी भावनाएं बन जाती है। “कविप्रिया” का गिरीश बेरोजगार है। “रिक्ति” का रंजन बेरोजगार है और “प्रश्रवाचक आकृतियां” का वीरेन्द्र बेरोजगार है। ये सभी शिक्षित बेरोजगार युवक हैं। इनके प्रेम संबंध बेरोजगारी के कारण ही व्यक्तिवाद में खतम हो जाते हैं। इन चरित्रों में संघर्ष करने की क्षमता है। इसलिए वे सफल लोगों के उपदेशों से घृणा करते हैं। घूस और चाटुकारिता का विरोध करते हैं और गलत मूल्यों से समझौता नहीं कर सकते। “बदबू” में भी बेरोजगारी का प्रश्न खड़ा है। यहां रोजगार को भाग्यवाद से जोड़ दिया गया है। यह मजदूरों का पुराना आस्थावादी दृष्टिकोण है। एक मजदूर कहता है “उस नीली छतरी वाले का शुक्र करो कि यहां काम मिल गया। अच्छे-भले-पढ़े-लिखे लोग धक्के खाते-फिरते हैं।” (बदबू)। “उस्ताद” में भी बेरोजगारी की गूंज है “मैं उस कारखाने में काम सीखने आया था। पढ़ लिखकर भी नौकरी नहीं मिली तो पिताजी ने रायसाहब से कह-सुनकर उनके कारखाने में लगवा दिया।” यह बेरोजगारी जिस व्यवस्था की देन है वहां व्यवस्था की राजनीति के विरुद्ध राजनैतिक विचार रखने वालों को भी नौकरी नहीं मिलती। जिन्हें मिलनी भी है उन्हें लगातार उत्पीड़ित किया जाता है। पर लेखक बेरोजगारी से उपजी विसंगतियों को कहीं भी गोरवान्चित नहीं करता।<sup>57</sup> शेखर जोशी की कहानियों में का आदमी न केवल घृणा की और शोषण की शक्ल को पहचानता है बल्कि उसके सामने खड़ा होकर टक्कर लेता है फिर चाहे वह खुद टूटे चाहे उस व्यवस्था में दरार आए। मूल्यवान उसका टक्कर लेना है।<sup>58</sup> जीवन से विचार की ओर यात्रा करनेवाले शेखर जोशी हिंदी के विरल कथाकार हैं। “एक पेड़ की याद” शेखर जोशी का कहानी संग्रह नहीं शब्द चित्रों और रिपोर्टाजों का संकलन है। कहानियां न होते हुए भी इनमें कहानियां कही गयी हैं। इनमें छूटे हुए गांव के बीते हुए अनुभवों को याद किया गया है। स्मृति के आधार पर यह खोए हुए संसार को फिर से अर्जित करना है। यह बीते हुए के प्रति आस्थावान होना है। जड़ देखने के लिए यह वृक्ष की प्रवृत्ति है। यह स्मृतिहीन होने के विरुद्ध एक गहरी और विस्तृत सांस्कृतिक कोशिश है। यज्ञ उल्लेख अप्रासंगिक न होगा कि कहानियों में भी शेखर जोशी याद करते हुए लगते हैं। शेखर ने इन शब्द चित्रों और रिपोर्टाजों में एक समाज की मृत्यु और जीवन को अंकित किया है। मूल आग्रह यह है कि सामाजिकता और संस्कृति के सीमांतों पर बसे मनुष्य को न भूला जाए। “एक पेड़ की याद” मनुष्य के उसी मार्मिक शिल्प का स्मरण है।<sup>59</sup>

सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि शेखर जोशी की कहानियां यदि एक उस्ताद की रचना हैं तो एक सैनिक रचनाकार की कहानियां भी जो रचना के मोर्चे को सरहद के मोर्चे की तरह मानता है। यही कारण है कि इन कहानियों में मनुष्य जीवन की अंतर्वस्तु की महाकाव्यात्मकता मौजूद है।<sup>60</sup>



## जनवादी चेतना

सामाजिक संबंधों के परिवर्तन और मूल्यों के विघटन का मूल आधार आर्थिक होता है। जिसमें औद्योगिक संस्थानों की एक अहम भूमिका रही है। जिसने सामाजिक परिस्थितियों में व्यापक परिवर्तन ला दिया है। भौतिक समृद्धि ही आज के मनुष्य का मुख्य ध्येय हो गया है जिसमें स्वस्थ सामाजिक मूल्यों की उपेक्षा नहीं की गयी है। शेखर जोशी जनवादी चेतना सम्पन्न कथाकार हैं। इसलिए उनकी कहानियों का आधार बिन्दु सामाजिक सम्बन्धों की व्याख्या और स्वस्थ सामाजिक जीवन मूल्यों की प्रतिस्थापना करना है। सामाजिक-आर्थिक विषमताएं ही मानवीय संबंधों अर्थात् सामाजिक-पातिवारिक संबंधों के विघटन का मूल कारण है। शेखर जोशी ने इन्हीं सामाजिक-आर्थिक विषमताओं तथा पूंजीवादी व्यवस्था में क्षरण होते मानवीय मूल्यों के बीच में से मनुष्यता को पहचाना और आत्मसम्मान को आदमी का सबसे बड़ा गुण माना है जो केवल आदमी में होता है। मनुष्य को मनुष्य बने रहने देने की चेतना उनकी कहानियों “बदबू”, “दाज्यू” से “छोटे शहर के बड़े लोग” में दिखायी पड़ती है।

चेतना एक प्रकाश की भांति बाह्य जगत के पदार्थों को मन के समक्ष उद्घाटित करती है और मन उनकी अभिव्यक्ति किया करती है – वह अभिव्यक्ति साहित्य का रूप ले, कला का रूप ले अथवा ज्ञान के किसी अन्य विषय का। “मार्क्सवादी विचारकों ने साहित्य और कलाओं को सर्वहारा वर्ग के लिए एक तेज और प्रभावशाली हथियार के रूप में अवश्य मान्यता दी है। परन्तु उन्होंने सदैव इस बात पर बल दिया है कि इस हथियार का रूप, अन्यो की तुलना में विशिष्ट है। साहित्य एवं कलाएं मनुष्य की संवेदना को परिष्कृत कर उसके भाव जगत की संपन्न करती है। उसके इंद्रियबोध पर सान चढ़ाती हैं, उसके सौंदर्य बोध को गहरा और व्यापक बनाती है। कहने का तात्पर्य यह कि वे मनुष्य को अधिक मानवीय, अधिक प्रखर, अधिक पूर्ण और अधिक संवेदनशील बनने में मदद देती है। वे मनुष्य को सामाजिक जीवन के अंतर्विरोधों तथा ऐसी शक्तियों से परिचित कराती हैं जो सही दिशा में विकसित होते हुए जीवन तथा जीवन के लिए छोड़े गये अभियान में बाधास्वरूप हैं। वे उसे उन शक्तियों तथा संभावनाओं का अहसास भी कराती हैं जो सामाजिक जीवन के क्रांतिकारी विकास की सही शक्तियां तथा सही संभावनाएं हैं।”<sup>61</sup>

साहित्य एवं कला को सीधे ही समसामयिक राजनीति से जोड़ने का उपक्रम करना। उसे विचारधारा के सतही प्रचार का माध्यम बनाना। उसे हल्के स्तर की उद्देश्यपरकता की सीमाओं में बांध देना एक संकीर्ण मनोवृत्त है जिसका हर सच्चे मार्क्सवादी विचारक ने कठोर विरोध किया है।

राल्फ फाक्स का कथन है कि “हमारा मुख्य संबंध जीवित और सप्राण मनुष्य से है। मात्र उन्हीं बाह्य परिस्थितियों से नहीं जिनके बीच वह मनुष्य है। सोवियत उपन्यास लेखकों से जो गलती हुई, वह यही थी कि वे इस तथ्य को नहीं समझ सके। उन्होंने अपनी सारी शक्ति किसी हड़ताल, किसी सामाजिक आंदोलन, समाजवाद के निर्माण, क्रांति अथवा गृहयुद्ध के स्थूल चित्रणों में ही लगा दी और इस बात पर विचार नहीं किया कि सर्वप्रमुख महत्व की बात सामाजिक पृष्ठभूमि नहीं। वरन् इस पृष्ठभूमि में अपने संपूर्ण विकास के साथ खड़ा मनुष्य है। महाकाव्यात्मक औदात्य से युक्त मनुष्य वही है जिसके लिए स्वतः अपनी तथा अपने व्यावहारिक क्रियाकलापों के बीच कोई दीवार नहीं होती। वह जीवित रहता है और जीवन को बदलता है। वह अपनी पुनः सृष्टि करता है।”<sup>62</sup> “साहित्य के प्रश्न मूलतः जीवन के प्रश्न हैं। मनुष्य के अंतःकरण में अभिव्यक्ति की आकुलता होती है। वह जीवन तत्त्वों को, जीवन

यथार्थ को, जीवन-दृष्टि को अपनी कृतियों में संवेदनात्मक रूप में प्रकट करता है। अतएव लेखक के वास्तविक मनोवैज्ञानिक संवेदनात्मक जीवन और उसकी अभिव्यक्ति के प्रश्न, वस्तुतः उसके जीवन के प्रश्न होते हैं।”<sup>63</sup> मुक्तिबोध का यह कथन शेखर जोशी की कहानियों के संदर्भ में सटीक लगता है। शेखर जोशी की कहानियों में जनवादी चेतना का स्वर “दाज्यू” से लेकर “छोटे शहर के बड़े लोग” तक में मुखरित होता है। जीवन के यथार्थ के संघर्ष कर ही परिस्थिति को बदला जा सकता है। वास्तविक जीवन को समझने और उसे बदलने में चेतना की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वर्ग विभाजित समाज में संबंधों के बदलते ही अभिव्यक्ति बदल जाती है। आत्मीय संबंधों को टूटते देर नहीं लगती। “साहित्य मनुष्य की सामाजिक चेतना और सामाजिक चिन्ता की देन है। इसलिए उसमें मानव-जीवन की वास्तविकता और संभावना की अभिव्यक्ति होती है। वह यथार्थ और चेतना के संबंध-बोध का माध्यम ही नहीं, सामाजिक चेतना के निर्माण और सामाजिक जीवन की रूपांतरणशीलता का साधन भी है। साहित्य की सामाजिकता और सामाजिक प्रयोजनशीलता को साहित्य की अभिजातवादी धारणा के समर्थक भी अब किसी न किसी रूप में स्वीकार करने लगे हैं। लेकिन साहित्य की जनवादी धारणा के अंतर्गत साहित्य की सामाजिकता और प्रयोजनीयता का मूलगामी अर्थ उसे बुनियादी बदलाव का साधन मानने में निहित है।”<sup>64</sup>

“मनुष्य की चेतना उसके सामाजिक-भौतिक अस्तित्व से निर्धारित होती है; लेकिन मनुष्य की चेतना अपने परिवेश की सीमाओं और दबावों से मुक्ति के प्रयत्न में बार-बार साहित्य और कला का सहारा लेती है। लेकिन यह भी सच है कि वास्तविक मुक्ति सामाजिक-भौतिक परिवेश के बुनियादी बदलाव पर निर्भर है। केवल चेतना की मुक्ति पर नहीं।”<sup>65</sup> “यह सच है कि केवल आक्रोश, शिकायत या चीख-चिल्लाहट का साहित्य क्रांतिकारी साहित्य नहीं होता। लेकिन यह भी सच है कि हताशा, घुटन, अनास्था और कुण्ठा का साहित्य क्रांति विरोधी होता है। शोषक-व्यवस्था की असली तस्वीर को जनता के सामने प्रभावशाली ढंग से रखनेवाला साहित्य क्रांतिकारी होता है। और वही जन चेतना को जगाने तथा उसे आगे बढ़ाने का काम करता है।”<sup>66</sup> शेखर जोशी की कहानियों में शोषक व्यवस्था में संघर्षरत आम आदमी की जनवादी चेतना का स्वर भी है। शेखर जोशी की पहली कहानी “दाज्यू” आजादी के कुछ वर्षों के बाद की कहानी है। आजाद देश में मदन देश के उस बचपन का प्रतिनिधि पात्र है जो बचपन की सुविधाओं से वंचित है। वर्ग विभाजन की विषमता को रेखांकित करनेवाली कहानियों में “दाज्यू” अविस्मरणीय है। राजनीति और संस्कृति में जनवाद की धार मुख्यतः सामन्तवाद विरोधी होती है। “हलवाहा”, “गलता लोहा”, “समर्पण”, “कथा-व्यथा”, “गोपुली बुबु”, “देबिया”, “रास्ते”, “बोझ” कहानियों में सामन्ती समाज में शोषण और उसके खिलाफ चेतना के स्वर भी हैं। “बोझ” कहानी उत्तराखंड में कुली बेगार आंदोलन की कहानी बन जाती है।

“शहरी जीवन के कहानीकार भी अब उच्च मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ और भ्रम के घेरे से निकलकर निम्न मध्यवर्ग की जिंदगी की यातना को देख रहे हैं। लेकिन अभी भी जनवादी कहानी में औद्योगिक मजदूरों के संघर्षपूर्ण जीवन और उनकी छद्म चेतना तथा वर्ग-चेतना के द्वंद्व का कलात्मक यथार्थवादी चित्रण बहुत कम दिखाई दे रहा है।”<sup>67</sup>

शेखर जोशी नयी कहानी के दौर के संभवतः अकेले ऐसे लेखक हैं जिन्होंने गांव और शहर की उत्पादक शक्तियों का जीवन्त चित्रण किया है। औद्योगिक परिवेश की कहानियों में “बदबू” बहुचर्चित कहानी है। मजदूर जीवन

से संबंधित कहानियों का संग्रह “डांगरीवाले” में मजदूर चेतना को अभिव्यक्त करनेवाली कहानियों में “बदबू”, “गलता लोहा”, “सीढ़ियां”, “आशीर्वचन”, “मेटल”, “नौरंगी बीमार है”, “आखिरी टुकड़ा”, “उस्ताद” महत्वपूर्ण कहानियां हैं। मध्यवर्गीय जीवन की विसंगतियों के साथ “प्रतीक्षित” “कविप्रिया” “सादे पृष्ठों का इतिहास” मध्यवर्गीय मानसिकता का अतिक्रमण करती हैं।

### संदर्भ

1. पण्डित मैनेजर, “हंस”, अप्रैल 92, पृष्ठ- 71
2. यादव राजेन्द्र, “कहानी स्वरूप और संवेदना”, पृ. - 47, तीसरा संस्करण
3. सिंह नामवर, “कहानी : नयी कहानी” पृ. 91, द्वितीय संस्करण
4. यादव राजेन्द्र, “कहानी : स्वरूप और संवेदना” (खण्ड-एक), पृ. 8, तृतीय संस्करण
5. यादव राजेन्द्र, “कहानी : स्वरूप और संवेदना” (खण्ड-एक), पृ. 9-12
6. साहनी भीष्म, भूमिका – हिंदी कहानी संग्रह, पृ. - 10, प्रथम संस्करण
7. साहनी भीष्म, – वही, पृ. - 11
8. साहनी भीष्म, – वही, पृ. - 17-18
9. यादव राजेन्द्र. एक दुनिया समानान्तर, पृ.- 19, पांचवां संस्करण
10. साहनी भीष्म, भूमिका – हिन्दी कहानी संग्रह. पृ.- 12
11. जोशी शेखर, वागर्थ, अप्रैल-1996 पृ.- 17
12. चौहान चंचल– “हिंदी कहानी : यथार्थवाद के विभिन्न आयाम”, “युद्धरत आम आदमी” संयुक्तांक (अंक-4-5) पृ.- 259
13. आनन्द प्रकाश, “हिंदी कहानी की विकास प्रक्रिया” लोकभारती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृ.-14-15
14. जोशी शेखर – “हिंदी कहानी : आज” वागर्थ, अप्रैल – 96, पृ.- 15
15. आनन्द प्रकाश, “हिंदी कहानी की विकास प्रक्रिया” लोकभारती प्रकाशन, प्रथम संस्करण. पृ.-15
16. वही, पृ.-15
17. वही, पृ.-117
18. वही, पृ.-118
19. वही, पृ.-29
20. वही, पृ. -16
21. आनन्द प्रकाश, “हिंदी कहानी की विकास प्रक्रिया”, लोकभारती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृ. -118-119
22. गजानन माधव मुक्तिबोध, मुक्तिबोध रचनावली - 4, राजकमल प्रकाशन (पे.), पहला संस्करण पृ.-145
23. चौहान चंचल, “युद्धरत आम आदमी” संयुक्तांक, अंक - 4-5, पृ. – 260

24. शंभुनाथ, “जातीय विरासत और नई कहानी आन्दोलन” “वागर्थ” जुलाई 96, सं – प्रभाकर श्रोत्रिय, पृ. -67
25. आनन्द प्रकाश, “हिंदी कहानी की विकास प्रक्रिया”, लोकभारती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृ.-33
26. वही, पृ. -119
27. चौहान चंचल, “हिंदी कहानी : यथार्थवाद के विविध आयाम” “युद्धरत आम आदमी” संयुक्तांक अंक-4-5, पृ.- 261
28. आनन्द प्रकाश, “हिंदी कहानी की विकास प्रक्रिया”, लोकभारती प्रकाशन, प्रथम संस्करण. पृ. -121
29. चौहान चंचल, “युद्धरत आम आदमी” संयुक्तांक अंक – 4-5, पृ. - 261
30. आनन्द प्रकाश, “हिंदी कहानी की विकास प्रक्रिया”, लोकभारती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृ. -33
31. चौहान चंचल, “युद्धरत आम आदमी” संयुक्तांक अंक - 4-5, पृ. – 261
32. आनन्द प्रकाश, “हिंदी कहानी की विकास प्रक्रिया”, लोकभारती प्रकाशन. प्रथम संस्करण, पृ. -59
33. आनन्द प्रकाश, वही, पृ. -59
34. वही, वही, पृ.-70
35. वही, पृ. -71
36. चौहान कर्ण सिंह, “साहित्य के बुनियादी सरोकार, अरुणोदय प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृ. -110-111
37. गजानन माधव मुक्तिबोध, “मुक्तिबोध रचनावली – 5” राजकमल प्रकाशन (प.), प्रथम संस्करण, पृ.- 197
38. चौहान कर्ण सिंह, “साहित्य के बुनियादी सरोकार”, अरुणोदय प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृ.-112
39. वही
40. ज्योत्सना मिलन, “जिजीविषा का सौन्दर्य” “पूर्वग्रह” मार्च-अप्रैल – 1980
41. जोशी शेखर, “माया”, सितंबर, 1964, पृ.- 14
42. सिंह तेज, “शेखर जोशी की कहानियां : समकालीन जीवन बोध के विविध आयाम”. “युद्धरत आम आदमी” संयुक्तांक (अंक - 4-5 ) सौजन्य संपादन – सुनील सिंह, पृ. - 214
43. सिंह तेज, वही, पृ. - 214
44. जोशी शेखर, “मेरा लेखन : मेरा परिवेश”. डांगरीवाले. आधार प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृ. - 9
45. – वही, पृ.- 10
46. – वही, पृ.-10-11
47. सिंह तेज, “युद्धरत आम आदमी”, संयुक्तांक अक्टूबर – 88, मार्च -89
48. ज्योत्सना मिलन. “जिजीविषा का सौन्दर्य” “पूर्वग्रह” मार्च-अप्रैल – 1980, सं. अशोक वाजपेयी. पृ.-30
49. तिवारी कपिल, “शामिल चिंता का यथार्थ” पहल – 15, अक्टूबर – 1980, पृ. – 118
50. – वही, पृ. – 119

51. डा. वीरेन्द्र मोहन - “शेखर जोशी : अंतवस्तु की महाकाव्यात्मकता” “अब” – 16, अप्रैल – 1990, सं, शंकर. अभय, नर्मदेश्वर, पृ.- 27
52. जोशी शेखर, “कहानी” वार्षिक विशेषांक - 1956 सं.- भैरव प्रसाद गुप्त. श्रीपर राय
53. सिंह तेज, “युद्धरत आम आदमी” संयुक्तांक (अंक – 4-5 ) सौजन्य संपादन – सुनील सिंह
54. तिवारी कपिल, “शामिल चिंता का यथार्थ” पहल – 15, अक्टूबर – 1980, पृ. – 121
55. डा. वीरेन्द्र मोहन – “अंतवस्तु की महाकाव्यात्मकता” “अब”- 16, अप्रैल – 1990, पृ.- 30
56. आनन्द प्रकाश - “वर्तमान परिवेश और जनवादी रचना”, हिन्दी कहानी की विकास प्रक्रिया’. लोकभारती प्रकाशन. प्रथम संस्करण. पृ. – 70
57. डा. वीरेन्द्र मोहन – “अब” – 16, अप्रैल – 1990, पृ. – 31
58. ज्योत्सना मिलन, “जिजीविषा का सौन्दर्य” “पूर्वग्रह” अंक - 37, सं, अशोक वाजपेयी. पृ.-30
59. बट्टीवत्त मिश्र - “मनुष्य को याद करने का एक मार्मिक शिल्प”, “स्वतंत्र भारत” 17 जून. 1992
60. डा. वीरेन्द्र मोहन – “अब” – 16, पृ. - 32
61. मिश्र शिव कुमार, यथार्थवाद, मैकमिलन. पृ. - 132
62. राल्फ फाक्स. “दि नावेल एंड दि पीपुल्स”. पृ.- 132
63. गजानन माधव मुक्तिबोध. “मुक्तिबोध रचनावली - 5” राजकमल प्रकाशन (पे.). प्रथम संस्करण पृ.-148
64. पण्डित मैनेजर, शब्द और कर्म, वाणी प्रकाशन, परिवर्द्धित संस्करण - 1997, पृष्ठ- 31-32
65. वही, पृ. – 32
66. वही, पृ-261
67. वही, पृ. - 150